"साहस, डर का प्रतिरोध है, डर पर काबू पाना है ; डर का अभाव नहीं।"

23 मार्च 1931 को जब भगत सिंह को फांसी पर लटकाया जाना था, तो क्या उन्हें डर नहीं लग रहा होगा? डर तो मानव स्वभाव की एक नियत विशेषता है। पर भगत सिंह, एक किताब को पढ़ते हुए, जब उस डर को जीत गए तथा हंसते हुए फांसी पर झूले तो आज 'शहीद-ए-आजम' कहलाए।

साहस व डर का संबंध इतिहास में हमेशा से एक चर्चा का विषय रहा है। इस संबंध

में साहस व डर की परिभाषा;
आपसी संबंध तथा अंत में
यह भी सोचा जा सकता है
कि क्या हमेशा ही डर को
काबू में कर साहसी बनना
उचित होता है?

सर्वप्रथम यदि हम
इन दोनों शब्दों का अर्थ समझ
लें तो इस अटिल विषय पर
चर्चा करना आसान होगा। 'साहस'
एक ऐसी अवस्था होती है जब
व्यक्ति डरे बिना किसी कार्य को
कर सकता है भले ही वह कितना
ही मुश्किल हो। पर असली सवाल
यही रह जाता है कि डरे बिना
का अर्थ डर पर नियंत्रण है या

डर की समाप्ति?

साहस की एक संकीर्ण व्याख्या में इसे डर की समाप्ति के रूप में ही परिभाषित किया जाता है। अधिकांशतः ऐसे राज्यों व समाज में जहां व्यक्ति की वैयक्तिकता को सीमित कर केवल बाहरी भावनाएं भरी जाती हैं, वहां सहज रूप से पैदा होने वाली डर की भावना को हीन समझा जाता है तथा खोखली प्रेरणा संचारित की जाती है। जैसे - नाजी जर्मनी व फासीवादी इटली में बचपन से ही साहस का यही रूप पढ़ाने का प्रयास किया जाता था ताकि शासक के आदेश पर सैनिकों से कुछ भी कराया जा सके।

"साहस, उस कार्य को बार-बार करना है, जिससे आप डरते हैं" - महात्मा गांधी का यह कथन साहस की उस व्यापक व्याख्या पर जोर देता है जिसके अनुसार हम बार-बार प्रयास कर डर पर नियंत्रण कर सकते हैं तथा यही साहस है। यही इसकी उचित व्याख्या भी है क्योंकि हम ऐतिहासिक, राजनीतिक, सामाजिक आदि क्षेत्रों में ऐसे उदाहरण देख चुके हैं।

आजादी के अमृत काल में हमारे स्वतंत्रता सेनानियों से बड़े इसके उदाहरण और क्या होंगे? चंद्रशेखर आजाद, रामप्रसाद बिस्मिल, सुभाषचंद्र बोस आदि सभी में

यह डर तो था ही कि अंग्रेज ज्यादा ताकतवर हैं, पर वे लड़े तथा उस डर को अपने काबू में कर देश के लिए अंतिम सांस तक प्रयास किए।

सामाजिक क्षेत्र में जाति व लिंग के आधार पर बनाई गई एक व्यवस्था में 19वीं सदी में सावित्रीबाई फुले का एक साहस के प्रतीक के रूप में उभरना, उनकी डर पर विजय का ही प्रमाण था।

स्वतंत्रता के बाद भारतीय लोकतंत्र के काले अध्याय 'आपातकाल' के दौरान जब न्यायपालिका के न्यायाधीश सत्ता के डर से

'संविधान के संरक्षक' की अपनी भूमिका भूल गए थे, उस वक्त हंसराज खन्ना के पास भी डर कर चुप बैठ जाने का विकल्प रहा होगा, पर उन्होंने साहस दिखाया व जनता की व संविधान की आवाज बने।

अब यदि हम साहस की इस परिभाषा को सिविल सेवाओं के स्तर पर लाएं, जहाँ साहस, फोर्टीट्यूड जैसे मूल्य वांछनीय हैं, तो यहां भी हमें सत्येंद्र दुबे जैसे अधिकारी मिलेंगे, जिन्होंने अपराधियों के डर से भ्रष्टाचार पर चुप्पी नहीं साधी बल्कि उसे उजागर किया।

पर प्रश्न का एक महत्वपूर्ण आयाम यह भी होगा कि साहस व डर के इस संबंध में क्या हमेशा साहस भी महान व वांछनीय माना जाएगा। डर की भी अपनी महत्ता है तथा इसकी आवश्यकता के भी उदाहरण हमें दृष्टिगोचर होते हैं; साथ ही साहस की अति के हानिकारक प्रभाव भी देखे गए हैं।

रामायण में रावण जो देवलोक का विजेता था वह साहसी तो था पर साहस को डर या बुद्धि के एक नियंत्रण की भी जरूरत होती है, जिसका अभाव उसे उसके पतन की ओर ले गया। हिटलर, एक अन्य ऐसा उदाहरण है जब साहस के

अतिरेक ने न केवल उसका विनाश किया बल्कि द्वितीय विश्वयुद्ध के रूप में विश्व को भी प्रभावित किया।

तो, अब सवाल यह है कि डर कब जरूरी है? डर की जरूरत हमें दो स्थितियों में होती है — पहली, जब साहस व शक्ति पर बुद्धिमत्ता का नियंत्रण कमजोर पड़ने लगे तथा दूसरी जब ~~हमारे~~ हमें मानवीयता, पर्यावरण, विश्व शांति जैसे सार्वभौमिक मूल्यों के लिए इसकी आवश्यकता हो।

पहली स्थिति में दुशासन जैसे
दुरात्माओं को डरना चाहिए कि यदि
उनका साहस द्रौपदी के वस्त्रों तक
पहुचेगा तो भीम की गदा उनके
दो टुकड़े कर देगी। भारतीय न्याय
व्यवस्था में मृत्यु दंड का प्रावधान
भी इसी कारण से किया गया है।

दूसरी स्थिति तब आती है
जब वे सर्वनाशक जैसे
वैज्ञानिक अपनी बुद्धिमत्ता को ही
उस बिंदु तक ले जाते हैं, जब वे
परमाणु बम बनाकर मानवीयता
पर ही खतरा बन जाते हैं, तब
उन्हें हिरोशिमा व नागासाकी से
डरना चाहिए क्योंकि ऐसा कभी उनके
देश के साथ भी हो सकता है।

Good

उपरोक्त संपूर्ण चर्चा का सार यह है कि यद्यपि साहस एक वांछनीय मूल्य है जो डर को समाप्त कर नहीं उस पर का नियंत्रण स्थापित कर प्राप्त किया जाता है, पर यह व्यक्ति की बुद्धिमत्ता के नियंत्रण से बाहर हो जाए तो डर की भी आवश्यकता हो सकती है। पर किसी भी देश व समाज के लिए आवश्यक है कि वह बच्चों में साहसी बनाए - तभी कोई कैप्टन विक्रम बत्रा अकेले ही चोटियों को फतह कर पाएंगे तथा तभी कोई पी.टी. उषा, सिकंदर को चुनौती दे पाएंगे।

66/125

"युद्ध यह तय नहीं करता कि कौन सही है, युद्ध केवल यह तय करता है कि कौन बचा है।"

द्वितीय विश्व युद्ध की समाप्ति इस जवाब के साथ नहीं हुई कि धुरी राष्ट्र सही थे या मित्र राष्ट्र, क्योंकि ऐसा होता तो युद्ध में साथी रहे अमेरिका व सोवियत संघ शीत युद्ध में क्यूं शामिल हो जाते। युद्ध ने केवल यह परिणाम दिया कि विश्व में अब केवल अमेरिका व सोवियत नामक दो महाशक्तियां बचीं हैं तथा ब्रिटेन आदि अब कमजोर हो गए हैं।

युद्ध, संभवतः इतिहास का सबसे पसंदीदा विषय रहा है, चर्चा हेतु भी व अध्ययन हेतु भी। यहाँ तक कि साहित्यकार भी इस विषय पर ज्यादा दिलचस्पी लेते रहे हैं। प्रत्येक युग में युद्ध, इसके प्रभाव, इसकी नैतिकता आदि पर चर्चा होती रही है, पर आज तक न तो इसे नैतिक घोषित किया जा सका, न ही पूर्णतः अनैतिक।

पहले हम युद्ध के बारे में संक्षेप में जान लेते हैं। युद्ध का सीधा अर्थ एक राज्य, संगठन, सेना का दूसरे पर हमला कर देना है। व्यापक अर्थ में सामाजिक

मान्यताओं, आर्थिक ढांचों के विरुद्ध हमले या विचारधारात्मक टकराव भी इस श्रेणी में आ सकते हैं; पर प्रचलित अर्थ में दो समूहों में सशस्त्र टकराव ही युद्ध कही जाती है। यह प्रत्यक्ष (रूस का यूक्रेन पर हमला) या अप्रत्यक्ष (शीत युद्ध) हो सकता है।

Good

अब हम यदि कथन के पहले पक्ष पर व्यापक चर्चा करें तो हमें देखने को मिलेगा कि यद्यपि युद्ध में शामिल सभी पक्ष, अपने-अपने सही होने का दावा करते हैं पर अंत में यह तय नहीं हो पाता कि कौन सही था?

इतिहास में देखें तो नेपोलियन को सही माना जाए, जिसने स्वतंत्रता व लोकतंत्र के नाम पर देशों की संप्रभुता छीनी तथा अत्याचार किए; या वाटरलू में उसे हराने वाले पक्ष की वर्साय की संधि को सही मानें जो राष्ट्रवाद, जनभावना व लोकतंत्र का गला घोंटने के लिए की गई थी। स्पष्ट है हम निरुत्तर रह जाएंगे।

आधुनिक विश्व में भी यह चीज देखी जा सकती है। 1991 में सोवियत संघ के विघटन के साथ अमेरिका, शीत युद्ध तो जीत गया; पर क्या पूंजीवाद व समाजवाद की इस लड़ाई में

पूंजीवाद सही साबित हो गया। न तो पूंजीवाद सही साबित हुआ, न समाजवाद मरा बल्कि कल्याणकारी राज्य के रूप में दोनो ही हमारे सामने हैं।

समकालीन समय में विश्व की सबसे महत्वपूर्ण घटनाओं में से एक रूस-यूक्रेन युद्ध में भी विश्व (भारत सहित) न तो रूस के पक्ष को पूर्ण रूप से सही मान पा रहा है व न ही यूक्रेन के पक्ष को।

यदि हम थोड़ा सा इस बारे में सोचें कि ऐसा क्यों होता है कि कोई भी पक्ष सही नहीं होता; तो हम पाएंगे, दुनिया की कोई भी व्यवस्था गलती रहित नहीं है। ऐसे में अपनी व्यवस्था की सत्यता के

पक्ष में युद्ध में कूद जाने की बजाय सहिष्णुता के मूल्य का पालन कर सह-अस्तित्व की संकल्पना की जानी चाहिए।

अब हम यदि कथन के दूसरे पक्ष पर आएं तो देखेंगे कि युद्ध केवल इतना तय करता है कि पीढ़े कौन छोड़ रह गया है? पानीपत के तृतीय युद्ध (1761) के बाद यह तय होना हो कि देश में ईस्ट इंडिया कंपनी ही शक्ति रह गयी है या प्रथम विश्व युद्ध के बाद यह तय हो जाना कि आटोमन साम्राज्य अब नहीं बचा रह पाएगा।

पर जटिलताएँ यहां भी

समाप्त नहीं होती है। अमेरिका के अफगानिस्तान में 20 वर्षीय युद्ध के बाद, उसका सत्ता पर कब्जा कर लेना हो या रूस का शीत युद्ध के बाद पुनः उभर आना युद्ध ये भी कहां तय कर पाए हैं कि कौन बचेगा!

अगर हम कथन का सूक्ष्म अन्वेषण करें तो यह बात भी तो स्थापित सत्य नहीं है कि युद्ध कभी भी सही या गलत का फैसला नहीं करेगा। महाभारत यह तय करता है कि पांडव सही थे व कौरव गलत। 1971 का भारत-पाक युद्ध यह तो स्थापित कर ही देता है कि बांग्लादेश का शोषण कर रहा पाकिस्तान गलत था।

युद्ध में सही-गलत स्थापना राजनीतिक से ज्यादा सामाजिक व आर्थिक क्षेत्रों में मुखर होती है। राजा राम मोहन राय का 18वीं सदी के रूढ़िवादी समाज को टक्कर देना युद्ध ही तो था, जिसमें यह साबित किया कि समानता, अधिकार ही सही हैं तथा पाखंड, भेदभाव आदि चीजें गलत हैं।

आर्थिक क्षेत्र में भले ही मार्क्सवाद सही न घोषित हुआ हो, पर यह तो साबित हुआ कि पूंजीवाद भी सही नहीं है, इसलिए जान रॉल्स की

समतावादी व्यवस्था स्वीकार की गई जो आज सही मानी जाती है।

अब तक हमने जितने भी पक्षों पर विचार किया वह यह मान कर किया कि युद्ध गलत हैं, पर इनके परिणाम जटिल हैं। पर क्या युद्ध हमेशा गलत हैं। दिनकर का कहना है -

"युद्ध को तुम निंद्य कहते हो मगर
जब तलक हैं उठ रही चिंगारियाँ
भिन्न स्वार्थों के कुलिश संघर्ष की
युद्ध तब तक विश्व में अनिवार्य है।"

1947 में जब कश्मीर पर पाकिस्तान ने कबीलाइयों की सहायता से हमला कर दिया

तो उस स्थिति में युद्ध ही विकल्प बचा था।

पर गांधी जैसे विचारक किसी भी परिस्थिति में युद्ध को सही नहीं मानते हैं। महात्मा गांधी का मानना है - "आंख के बदले आंख, पूरे विश्व को अंधा कर देगी।" बेंजामिन फ्रैंकलिन ने भी कहा है कि आज तक कोई शांति बुरी नहीं रही है।

संपूर्ण चर्चा का निष्कर्ष यही है कि युद्ध एक जटिल घटना है जिसमें कोई भी पक्ष विजयी नहीं रहता बस बचा रहता है, हालांकि इसके

अपवाद भी हैं। अतः चित्त की शांति की दिशा में ही आगे बढ़ना चाहिए ताकि सभी का कल्याण सुनिश्चित किया जा सके तथा युद्ध अंतिम विकल्प, अपरिहार्य विकल्प हो जब उसका कोई तरीका संभव न हो, क्योंकि-

"ऐसा कोई युद्ध नहीं है, जो सारे युद्धों का अंत कर दे।"

(मुराकामी)